

भारत की भीषण भाषा समस्या और उसके सम्भावित समाधान

अजय कुलश्रेष्ठ | jaykulsh@compuserve.com | कैलिफोर्निया, यू०एस०ए०

सार

विश्व के तेजी से प्रगति कर रहे सभी विकासशील देश ऐसा, अंग्रेज़ी अपनाये बिना, निज भाषाओं के माध्यम से कर रहे हैं। भारत में स्थिति उल्टी है -- यहाँ अंग्रेज़ी की जकड़ बढ़ रही है और भारतीय भाषायें चपरासियों की भाषायें हो चलीं हैं। इसका प्रमुख कारण है हमारी भाषाओं का आपसी वैमनस्य! इसके निराकरण के लिए, अच्छा हो, यदि सभी भारतीय भाषायें एक लिपि अपनायें जो वर्तमान विभिन्न लिपियों का मिला-जुला रूप हो। पर सबसे महत्वपूर्ण कदम होगा दक्षिण की चार भाषाओं को उत्तर भारत में मान्यता साथ ही हिन्दी के पाठ्यक्रम में दूसरी उत्तर-भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनायें जोड़ी जायें ताकि छात्र इन भाषाओं की निकटता से परिचित हों। वे भाषायें भी ऐसी ही नीति अपनायें।

अंग्रेज़ी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषा है पर वाइसरायों के जमाने से चला आ रहा हमारा आंग्ल-पाठ्यक्रम विवेकशून्य और आत्मघाती है। हम अंग्रेज़ी ऐसे पढायें जैसे किसी भी अन्य देश में एक विदेशी भाषा पढायी जाती है।

भारत को अपने व्यापक पिछड़ेपन से यदि कभी उबरना है, विभिन्न वर्गों की घोर असमानता यदि कभी कम करनी है तो जरूरी होगा कि हम एक आम आदमी को उसी की भाषा में शिक्षा और शासन दें -- जैसा कि हर विकसित देश में होता है।

**

भारत में ऐसे 'जानकार' हर गली-नुक़्कड़ पर मिलते हैं जो अंग्रेज़ी को प्रगति का पर्याय मानें। कोई उन्हें झकझोरे और बताये कि उन्नति का स्रोत आंग्ल भाषा नहीं, वह ज्ञान है जिसे अंग्रेज़ी से अनूदित कर जापान, कोरिया और चीन जैसे देश जन-सामान्य तक पहुँचाते हैं, उसका विकास करते हैं और अपना विकास करते हैं।

क्या भारतीय भाषायें चीनी, जापानी आदि भाषाओं की तुलना में इतनी अक्षम हैं कि अंग्रेज़ी से अनुवाद न किया जा सके? स्वयं अंग्रेज़ी में निरन्तर पारिभाषिक शब्द गढ़े जाते हैं जो प्रायः ग्रीक और लेटिन भाषाओं पर आधारित होते हैं। संस्कृत का शब्द-भण्डार इन दो प्राचीन भाषाओं से अधिक समृद्ध है। हमें पारिभाषिक शब्द बनाने में कठिनाई क्यों हो? जापानी, कोरिआई आदि भाषाओं की तुलना में हमें अधिक सुभीता होना चाहिये।

पर किस भाषा में अनुवाद? यह "अंग्रेज़ी की महत्ता क्यों और कितनी?" से भी बड़ा प्रश्न है -- भारतीय भाषाओं के आपसी वैमनस्य के कारण। पहले इसका हल ढूँढें।



भारतीय भाषाओं को दो भागों में बाँटा जाता है। उत्तर और मध्य भारत की भाषायें

सीधे संस्कृत पर आधारित हैं. दक्षिण की चार भाषाओं का मूल भिन्न है पर उन पर भी संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव है.

उत्तर भारत की भाषायें गिनते समय प्रायः लोग लिपियों पर ध्यान देते हैं पर लिपियाँ भाषाओं की भिन्नता का सदा सही माप नहीं देतीं. यदि भोजपुरी की अपनी लिपि होती तो वह भी पंजाबी की तरह एक अलग भाषा मानी जाती. ऐसे कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं.... शायद इसी कारण विनोवा भावे ने कई दशक पूर्व आग्रह किया था कि सभी भारतीय भाषायें संस्कृत की लिपि यानी देवनागरी अपनायें. उनका यह सुझाव आया गया हो गया क्योंकि इसके अन्तर्गत हिन्दी और मराठी को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं को 'झुकना' पड़ता. समाधान ऐसा हो कि देश के भाषायी समन्वय के लिए हर भाषा को किंचित त्याग करना पड़े.

ऐसा सम्भव है क्योंकि सभी भारतीय लिपियों की उत्पत्ति ब्राम्ही लिपि से हुयी है. यदि हम इस ब्राम्ही लिपि का ऐसा आधुनिक सरलीकरण और "त्वरित उद्भव" करें कि वह प्रचलित विभिन्न लिपियों का मिश्रज (hybrid) लगे तो उसे अपनाने में भिन्न भाषाओं को कम आपत्ति होगी. (इस लिपि में कई अक्षर ऐसे होंगे जिनका प्रयोग कुछेक भाषा ही करेंगीं.) कुछ सम्भावनाएँ :--

उत्तर भारतीय लिपियाँ			दक्षिण भारतीय लिपियाँ			सरल मिश्रज अक्षर??
अ	अ	अ	అ	அ	ಆ	अ/अ
इ	क	क	ఠ	க	ಕ	क/क
उ	ठ	ठ	ఠ	ఠ	ಠ	ठ/ठ
ए	प	प	ప	ப	ಪ	प/प
र	र	र	ఠ	ர	ಠ	र/र

पर क्या अपनी लिपि का लगाव छोड़ा जा सकेगा? प्रथम तो यह कि मिश्रज लिपि पूरी तरह अपरिचित अथवा विदेशी न होगी. दूसरे, यदि कुछ कठिनाई होगी भी तो लाभ बड़े और दूरगामी हैं. यह भी ध्यान देने की बात है कि अंकों के मामले में ऐसा पहले ही हो चुका है -- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर. संसार की सभी लिपियाँ अंकों के लिए अब 1,2,3,4,5... का प्रयोग करती हैं. अब हम जहाँ तहाँ ही हिन्दी में चार को '4' अथवा तमिळ में सात को '6' लिखा पाते हैं.

बात अन्तर्राष्ट्रीयता की आई है तो कुछ लोग कहेंगे कि क्यों न हम अंग्रेज़ी की रोमन लिपि अपनायें? ऐसा करना अनर्थकारी और हास्यास्पद होगा. भारतीय वर्णमाला को

विश्व का अग्रणी ज्ञानकोश -- इन्सायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका -- भी 'वैज्ञानिक' कहता है. (ऐसा अभिमत किसी दूसरी वर्णमाला के लिये व्यक्त नहीं किया गया.) भारतीय लिपियाँ पूरी तरह ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) हैं अर्थात् उच्चारण और वर्तनी (स्पेलिंग) में कोई भेद नहीं. (आश्चर्य नहीं कि मेरे एक ब्राज़ीली मित्र ने मात्र एक दिन में देवनागरी पढ़ना सीख लिया था.) ऐसी लिपि प्रणाली को छोड़कर यूरोपीय लिपि अपनाना सर्वथा अनुचित होगा.

इस समय हमारी लिपियों की संसार में कोई पूछ नहीं है. यदि सभी भारतीय भाषायें एक लिपि का प्रयोग करें तो शीघ्र ही इस लिपि को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिलेगी जैसी कि चीनी, अरबी आदि लिपियों को आज प्राप्त है. एकता में बल है.



एक-लिपि हो जाने पर भी भारतीय भाषायें भिन्न बनीं रहेंगीं. दूसरा कठिन कदम होगा एक भाषा को समस्त भारत में प्रधान बनाने का. यह हिन्दी होगी पर विशालहृदया हिन्दी! (इस 'विशालहृदया' का विस्तार आगे...) साथ ही, हिन्दी के दक्षिण भारत में प्रसार के लिए आवश्यक है कि दक्षिण की चार भाषाओं को उत्तर भारत में मान्यता मिले. यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है! हिन्दी भाषियों की संकीर्णता ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में सबसे बड़ी अड़चन रही है. दक्षिणी भाषायों के प्रति उत्तर भारत में कोई जिज्ञासा नहीं है. यदि है तो एक 'हापड़िल्ले सापड़िल्ले' वाली उपहास-वृत्ति. आश्चर्य नहीं कि स्वाभिमानी दक्षिण भारतीय, जिनकी भाषाओं का लम्बा इतिहास और अपना साहित्य है, हिन्दी प्रसार के प्रयत्नों को इकतरफ़ा और हेकड़ीभरा कहकर उसका विरोध करें.

भारतीय सेना में दक्षिण भारत की सेना-टुकड़ियों के उत्तर भारतीय अफसरों को चार दक्षिणी भाषाओं में से एक सीखनी पड़ती है. उत्तर भारत की शिक्षा-प्रणाली में ऐसा ही कुछ किया जाना नितान्त आवश्यक है. जैसे, हर माध्यमिक स्कूल में छटंवी कक्षा से एक दक्षिण भारतीय भाषा पढ़ाने की व्यवस्था हो. ऐसा होने पर उत्तर-दक्षिण का भाषायी वैमनस्य जाता रहेगा और तद्जनित सद्भाव के वातावरण में सहज ही हिन्दी को दक्षिण भारत में स्वीकृति मिलेगी.

उत्तर भारत की दूसरी भाषाओं के प्रति हिन्दी को विशालहृदया भी होना होगा. बंगाली, गुजराती, उड़िया आदि के शीर्षस्थ साहित्यकारों की रचनायें हिन्दी पाठ्यक्रम में जोड़ी जायें. इससे छात्रों पर अतिशय भार न पड़ेगा. इन हिन्दीतर भाषाओं के अनेक

पद्यों की भाषा हिन्दी की खड़ी बोली से लगभग उतनी ही दूर है जितनी 'रामचरितमानस' की अवधी. "वैष्णव जन तो तेने रे कहिए, जे पीड़ परायी जाणे रे" का अर्थ समझने के लिए किस हिन्दीभाषी को कुंजी उठानी होगी? संस्कृतिगर्भित होने पर यह दूरी और भी कम हो जाती है जैसा कि 'जन गण मन' और 'वन्दे मातरम' जैसी रचनाओं में देखा जा सकता है. गद्य पाठन भी मुश्किल न होगा. "शांतता, कोर्ट चालू आहे" का अर्थ एक बार जान लेने पर क्या किसी उत्तर भारतीय के लिए याद रखना कठिन है?

उत्तर भारत की भाषाओं के सामीप्य के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं:

- मीराबाई के भजन हिन्दी में जितने लोकप्रिय हैं उतने ही गुजराती में.
- बिहार के विद्यापति को हिन्दी और बंगाली भाषी दोनों ही अपना मानते हैं.
- पंजाबी के 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में मराठी कवि 'नामदेव' के अनेक पद हैं. (यह भी कि नानक देव के अधिकांश दोहों की भाषा ऐसी है कि यदि वे 'गुरुमुखी' में लिखे जायें तो पंजाबी कहलायेंगे और देवनागरी में लिखे जायें तो हिन्दी.)

उत्तर भारतीय भाषाओं के पाठ्यक्रम में दूसरी सहोदरी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं को समाहित कर लेने से छात्र स्वयं इस भाषायी-निकटता से अवगत होंगे. हमारी सांस्कृतिक धरोहर में भिन्न क्षेत्रों के साहित्य का जो योगदान है उससे उनका परिचय होगा. भाषायी-सौहार्द तो बढ़ेगा ही.

यों देश में आज भी दूसरी भारतीय भाषाओं की कुछेक रचनायें पढाई जाती हैं -- पर अंग्रेज़ी के माध्यम से! इस पर कुछ कहने से पहले हम 'अंग्रेज़ी की महत्ता' के बड़े विषय को लें.



निस्सन्देह वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में नई खोजों, नये विचारों की भाषा प्रायः अंग्रेज़ी होती है. सबसे उन्नत देश अमेरिका की भाषा अंग्रेज़ी है. ज्ञान-विज्ञान की जितनी पुस्तकें, पत्रिकायें अंग्रेज़ी में उपलब्ध हैं उतनी किसी और भाषा में नहीं.

पर क्या इस ज्ञान को आत्मसात करने के लिए हम अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेज़ी को अंगीकार करें? भारत में आज ऐसा ही हो रहा है. अंग्रेज़ों के जाते समय अंग्रेज़ी भाषा की जितनी महत्ता थी, उससे अधिक आज है. क्या हमारा यह अंग्रेज़ी-अनुराग हमारे देश के

उत्थान में सहायक हुआ है अथवा इस विदेशी भाषा पर अधिकार करने के अर्धसफल या असफल प्रयास में हम पीढ़ी दर पीढ़ी अपार समय और ऊर्जा गँवा रहे हैं?

उच्च शिक्षा के लिए जितने छात्र भारत से प्रतिवर्ष अमेरिका जाते हैं, लगभग उतने ही तैवान, दक्षिणी कोरिया जैसे देशों से, जहाँ विश्वविद्यालयों में विज्ञान तथा तकनीकी विषय भी चीनी, कोरियाई जैसी भाषाओं में पढाये जाते हैं. (यह भी ध्यान दें कि हमारी जनसंख्या तैवान की जनसंख्या से 40 गुनी और दक्षिणी कोरिया की जनसंख्या से 20 गुनी है!) हमारे अंग्रेज़ी-दक्ष इंजीनियर कोरिया के लोगों को कार, टीवी बनाना नहीं सिखाते. उनके टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलने वाले इंजीनियर हमें, और बाकी दुनिया को, ऐसा सामान बनाकर बेचते हैं.

इन अंग्रेज़ी-मोह से मुक्त देशों की सफलता का कारण समझना कठिन नहीं है. वहाँ अंग्रेज़ी की पुस्तकों का स्वदेशी भाषा में अनुवाद करके उस ज्ञान को जन-साधारण के लिए सुलभ कर देते हैं. जो छात्र उच्चतर अध्ययन के लिए विदेश जाना चाहते हैं, अथवा जो दूसरे कारणों से अंग्रेज़ी में रुचि रखते हों, केवल वे ही अंग्रेज़ी पढ़ते हैं. शेष छात्र इस भार से लगभग मुक्त.

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इन देशों में विदेशी साहित्य और संस्कृति के प्रति रुचि न हो. टैगोर की कविताओं से इन एशियाई देशों के छात्र जितने परिचित हैं उतने भारत के नहीं. वहाँ महाकवि का काव्य अपनी बोली में भाषान्तर करके पढाया जाता है. हमारे यहाँ करोड़ों अ-बंगाली विद्यार्थी उन्हीं कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ते हैं जो कुंजियों की मदद से आधा-अधूरा किसी के पल्ले पड़ जाय तो बहुत समझिये.

बात हमारे अंग्रेज़ी पाठ्यक्रम की आई है तो उसके अन्य आयाम भी देख लें. भारत में अंग्रेज़ी एक विदेशी भाषा के रूप में नहीं पढाई जाती. उसका पठन-पाठन कुछ ऐसा है मानो हम सब लंदन के निवासी हों!

वे छात्र जो अभी अंग्रेज़ी व्याकरण सीख ही रहे होते हैं और जो अपने मन के एक-दो सहज विचारों को ठीक तरह अंग्रेज़ी में व्यक्त करने में असमर्थ हैं उनसे कहा जाता है कि वे अंग्रेज़ी में गद्य तथा पद्य की सन्दर्भ सहित व्याख्या करें! संसार का शायद ही कोई दूसरा देश एक विदेशी भाषा को सीखने में ऐसी कमअक्ली दिखाता हो! (यह शिक्षा-पद्धति ब्रिटिश-राज की देन है जिससे हम आज भी स्वतन्त्र नहीं हो पाये हैं.) स्वयं भारत के महानगरों में, जहाँ फ्रांसीसी, जर्मनी आदि भाषायें सिखाई जाती हैं वहाँ जोर

व्याकरण की पक्की नींव डालने और शब्द ज्ञान बढ़ाने पर होता है. उस भाषा के साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन तो बहुत बाद में और अधिकांश छात्रों को उसकी आवश्यकता ही नहीं. यह उस साहित्य की अवहेलना नहीं, अपनी सीमायें समझने और प्राथमिकता निर्धारित करने की बात है. (कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग के क्षेत्र में सफल होने के लिए, अंग्रेज़ी साहित्य तो छोड़िये, उसके व्याकरण के विशेष ज्ञान की भी जरूरत नहीं!)

अंग्रेज़ी में ऐसे अनेक उच्च कोटि के कवि और लेखक हैं जिनकी कुछेक रचनाओं से परिचित होना किसी भी शिक्षित भारतीय के लिए जरूरी है. पर अंग्रेज़ी साहित्य विश्व-साहित्य नहीं है! अन्य विदेशी भाषाओं में भी प्रथम स्तर के बहुतेरे साहित्यकार हैं. वास्तव में ताल्सताय, चेखव और दास्तोयव्स्की जैसे रूसी दिग्गजों के आगे अंग्रेज़ी का कोई कथाकार नहीं ठहरता. हम क्यों न सभी श्रेष्ठतम विदेशी साहित्यकारों की रचनायें पढ़ें -- पर अपनी भाषा में अनूदित करके, जैसा कि संसार के लगभग हर दूसरे देश में होता है. हमारे वर्तमान आंग्ल-पाठ्यक्रम में फ्रांसीसी मोपासां और रूसी चेखव की कहानियां कुछ ऐसे प्रस्तुत की जाती हैं मानो वे अंग्रेज़ी के लेखक हों! बंगाली के टैगोर का क्षोभनीय उदाहरण तो हम देख ही चुके हैं.



यदि हमारे देश से कभी अंग्रेज़ी का दबदबा हटा तो कुछ समस्यायें भी उठ खड़ीं होंगीं:
-- समृद्ध परिवारों की नाकारा निकल गई कुछेक संतानो को, जितनी एक मात्र योग्यता अंग्रेज़ी में गिटपिटाना है, फिर नौकरियाँ कौन देगा?

-- हिन्दी के फिल्मजगत में तो बिल्कुल उथल पुथल मच जायेगी. वहाँ जो कुछ हिन्दी बोली जाती है वह पर्दे पर. कैमरा हटते ही उन अधपढ़ों की भीड़ में जो जितनी अमेरिकी-ढरक से अंग्रेज़ी बोलता है, अपने आप को उतना ही कुलीन समझता है. उन कमबख्तों की छींक भी अंग्रेज़ी शब्दों के आदान-प्रदान के बिना पूरी नहीं होती. यदि अंग्रेज़ी की महत्ता गई तो इस उद्योग के लोग अपना उथलापन, अपनी अभद्रता कहाँ कैसे छुपायेंगे?

सो तो है. ऐसी दिक्कतें तो होंगीं.... कुछ और वर्ग भी विरोध करेंगे मानो समर्थ अंग्रेज़ी का प्रभुत्त जाते ही देश बेसहारा हो जायेगा. अच्छा हो यदि ये लोग स्वयं अंग्रेज़ी भाषा का अपना इतिहास जान लें --

आज से 500 वर्ष पहले विश्व की भाषाओं में अंग्रेज़ी की कोई गिनती नहीं थी. इसको बोलने वाले दो-एक टापू तक सीमित थे और वहाँ भी विद्वानों की भाषा लेटिन थी.

शासक वर्ग में लेटिन की पुत्री इतालवी को सीखने का लोगों को सबसे अधिक चाव था.... पर इंग्लैंडवासी इस विदेशी-भाषा-भक्ति से ऊपर उठे. उन्होंने उस समय के सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का -- बाइबिल जिनमें प्रमुख थी -- अपनी बोली में अनुवाद प्रारम्भ किया. विदेशी पुस्तकों, कथाओं आदि के आधार पर अपनी भाषा में साहित्य रचा. उनकी भाषा समृद्ध और सशक्त हुई और साथ ही सबल हुआ वह समाज. उनके उत्कर्ष की शेष कहानी तो हम जानते ही हैं.

पाँच सदी पूर्व की अंग्रेज़ी की तुलना में हमारी भाषाओं की वर्तमान स्थिति श्रेयस्कर है. संस्कृत की विपुल शब्द सम्पदा हमारी थाती है. अगर कमी है तो केवल इच्छाशक्ति की, एक संकल्प की, आपसी भाषायी राग-द्वेष को मिटाकर आगे बढ़ने की....



आज देश में जो भी प्रगति हो रही है उसका लाभ प्रायः उच्च-मध्यवर्गीय 20 करोड़ लोगों तक सीमित है. शेष 80 प्रतिशत के पास अपना जीवनस्तर सुधारने के बहुत कम रास्ते हैं, जिसका एक कारण अंग्रेज़ी की प्रभुसत्ता है. (और ऊपर का वह 20 प्रतिशत भी, अंग्रेज़ी भाषा-ज्ञान बढ़ाने में सतत समय गँवाता, दूसरे एशियाई देशों की तुलना में फिसड्डी लगता है.)

यदि भारत को कभी उन्नत देशों की श्रेणी में गिना जाना है तो जरूरी है कि हम अंग्रेज़ी की बेड़ियों से मुक्त हों. उसे एक अतिथि सा सम्मान दें, गृहस्वामिनी न मानें. आम आदमी को उसी की भाषा में शिक्षा और शासन दिया जाय.

हम अन्य देशों से सीखें. आज चीन जिस तरह दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहा है, आश्चर्य नहीं कि इस शताब्दी के मध्य तक चीनी भाषा विश्व में उतनी ही महत्वपूर्ण हो जाय जितनी अंग्रेज़ी. (इसके संकेत अमेरिका में अभी से दिखने लगे हैं.) तब हम और दयनीय लगेंगे.

हमें समय रहते चेतना चाहिये.

